Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 SHISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

चौथीराम यादव का अस्मितावादी चिंतन व प्रतिरोध की परंपरा

अनीश कुमार
पी-एच.डी. शोध छात्र, हिन्दी विभाग
सांची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय
बारला, रायसेन, मध्य प्रदेश

आलोचना विधा हिन्दी साहित्य क एक महत्वपूर्ण विधा है। आलोचना किसी भी साहित्य में एक कसौटी की तरह कार्य करता है। आलोचना जगत में विभिन्न धाराएँ अपनी उपस्थिती दर्ज करवाती है। आलोचना अपने शुरुआत से लेकर आज तक अनेकों उतार-चढ़ाव से होकर गुजरा है। आलोचना की शुरुआत मुख्यतया द्विवेदी युग के समय से माना जाता है। साहित्य के किसी विधा की आलोचना उसकी सार्थकता मानी जाती है। ऐसा माना जाता है कि बिना आलोचना के कोई भी साहित्य साहित्य कि श्रेणी में नहीं आता। आज तक आलोचना की विभिन्न दृष्टियों के माध्यम से हिन्दी साहित्य के लेखन को देखा व परखा जाता रहा है। चौथीराम यादव मानते हैं कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य एक प्रगतिशील साहित्य है।

हिंदी में लगभग नब्बे के दशक से अस्मितावादी विमर्शों का आगमन होता है, जिसमें दलित विमर्श, स्त्री विमर्श और आदिवासी विमर्श व पसमांदा विमर्श आदि प्रमुख हैं। साहित्य में अब अस्मितावादी आलोचनाएँ भी शुरू हो गई थीं। अस्मितावादी आलोचकों में राजेंद्र यादव, मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता, मुद्राराक्षस, तुलसीराम, मोहनदास नैमिशराय, हरिराम मीणा, सुमन राजे, ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्योराज सिंह 'बेचैन', डॉ. धर्मवीर, विमल थोराट, कंवल भारती, जयप्रकाश कर्दम, सूरज बड़त्या आदि ने अपनी आलोचनाओं से हिंदी आलोचना जगत में नई जमीन तैयार की। इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए हाशिये की वैचारिकी के साथ लेकर प्रखर आलोचक व विमर्शकार प्रो. चौथीराम यादव आते हैं। उनका लेखन आलोचना जगत में हाशिए के चिंतन को विस्तार से प्रस्तुत करता है। इनकी आलोचना पद्धति आलोचना के नए आयामों को गढ़ती हुई आगे बढ़ती है।

साहित्य के संदर्भ में 'विमर्श' की संकल्पना आधुनिक काल की देन है। विगत दो दशकों से यह संकल्पना साहित्य जगत में प्रयुक्त मिलती है। आज दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, सत्ता विमर्श, वृद्ध विमर्श और अल्पसंख्यक विमर्श आदि संकल्पनाएँ काफी रूढ़ हुई दिखाई देती हैं। विमर्श को साहित्य के केंद्र में लाने का श्रेय प्रसिद्ध हिंदी कथाकार राजेंद्र यादव को जाता है। प्रसिद्ध हिंदी कथा मासिक पत्रिका 'हंस' के जरिये संपादक होने के नाते राजेंद्र यादव ने स्त्री विमर्श व दलित विमर्श की न केवल पहल की बल्कि साहित्य में उसके गंभीर चिंतन का माहौल बनाया। इससे आलोचना जगत को और अधिक पहचान मिली। धीरे-धीरे यह हिन्दी साहित्य से बाहर भी अपना कदम रखा।

साहित्य में अस्मिताबोध से प्रेरित रचनाएँ आदिकाल से ही देखने को मिलती हैं। लेकिन आलोचना का दुर्भाग्य कहिए कि कभी इसे नोटिस नहीं किया गया। चौथीराम यादव लिखते हैं कि "आदिकाल के कवि नरपति नाल्ह की नायिका राजमती विधाता से प्रश्न करती है कि हे विधाता, तूने मुझे स्त्री क्यों बनाया ? बनाना था तो पशु-पक्षी क्यों नहीं बनाया ? प्रश्न की धार को

और तेज करती हुई जब वह कहती है की हे महेश ! अगर मुझे स्त्री बनाना ही था, रानी क्यों बनाया ? जाटनी क्यों नहीं ?"[1] यहाँ स्त्री चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

किसी भी विमर्श को उसके उद्येश्य तक पहुंचाने का कार्य सौंदर्यशास्त्र करता है। इसलिए साहित्य का अपना खुद का सौंदर्यशास्त्र होना बहुत जरूरी होता है। दलित सौंदर्यशास्त्र को विकसित करने में शरणकुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे रचनाकारों का महत्वपूर्ण योगदान है। दलित सिद्धांतशास्त्र यह कहता है कि दलितों के बारे में लिखने का अधिकार सिर्फ़ दलितों को ही है क्योंकि वे ही दलित की संवेदना को पकड़ सकते हैं। ग़ैर-दलित लेखकों में संवेदना की इस ज्वाला को सहन करने की शक्ति नहीं है। दलितेत्तर लेखक महज़ सहानुभूति दिखा सकता है। रचना और आलोचना के स्तर पर वह दलित-लेखन के साथ न्याय नहीं कर सकता। हालांकि इस संदर्भ में प्रो. चौथीराम यादव लिखते हैं कि- "डॉ. अंबेडकर की वैचारिकी को आत्मसात कर लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है चाहे वह किसी दलित द्वारा लिखा गया हो या या गैर दलित द्वारा। किसी भी दलित लेखक द्वारा लिखा गया साहित्य, दलित साहित्य ही होगा यह आवश्यक नहीं। साहित्य यदि अंबेडकरवाद को नजरअंदाज कर लिखा गया है तो उसे दलित साहित्य नहीं मानना चाहिए, चाहे वह किसी दलित लेखक द्वारा ही क्यों न लिखा गया हो।"[2] चौथीराम यादव के इस विचार से कई दलित आलोचक सहमत नहीं हैं। विमर्श की बात करते समय हमारे सामने तुरंत सहानुभूति बनाम स्वानुभूति आ जाता है। यही स्थिति लगभग सभी विमर्शों की है। जिसकी समस्या है अर्थात जो भुगत रहा है उसे बताने का मौका न देकर बल्कि दूसरे लोग उसकी समस्या को लिख व बोल रहे हैं।

दलित साहित्य की भाषा सुई की नोक की भांति नुकीली होने के कारण कुछ लोगों को असहज लगती है। यह मनुष्य को मनुष्य की तरह देखने का हिमायती है। इसे किसी छंद, अलंकार आदि की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार इसका सौंदर्यशास्त्र भी हिंदी के परंपरावादी सौंदर्यशास्त्र से बिलकुल अलग है। इसकी भाषा घुमाव-फिराव वाली न होकर बिलकुल सटीक व स्पष्ट होती है। इस संदर्भ में प्रो. यादव लिखते हैं कि "यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र हिंदी के परंपरागत सौंदर्यशास्त्र के कलावादी प्रतिमानों का मोहताज नहीं है। वह रस, अलंकार, छंद को नहीं बल्कि साहित्य के आशय और सामाजिक सरोकारों को महत्व देता है।"[3]

चौथीराम यादव अपनी पुस्तक 'उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज' की भूमिका में लिखते हैं कि "उत्तरशती विमर्शों की शताब्दी है। आज के बदलते हुए परिवेश में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श का चर्चा के केंद्र में आना तथा सभी स्त्री, दलित और आदिवासी समुदाय का समाज के केंद्र में आना हमारे सामाजिक–आर्थिक विकास और दलित-स्त्री नवजागरण की चेतना का परिणाम है, जो हजारों सालों से गुमशुदा अस्मिताओं का आंदोलन बनकर सामने आया है। इनकी आवाज जमाने की आवाज है। अब उसे अनसुना नहीं किया जा सकता है।"[4]

चौथीराम यादव की आलोचना दृष्टि उन मानकों को तोड़ती हुई आगे बढ़ती है, जिसके केंद्र में सिर्फ सामंतवादी मानसिकता ही रही है। अपनी आलोचना के माध्यम से वे एक सशक्त रास्ता बनाते चल रहे हैं। हिंदी साहित्य में पीछे छूट गए पसमांदा विमर्श को भी नए सिरे से ऊपर लाने का कार्य भी इन्होंने किया है। इस संदर्भ में अपनी चिंता जाहिर करते हुए लिखते हैं कि "हिन्दू समाज के दलित विमर्श की तरह मुस्लिम समाज में उठ खड़े हुए 'पसमांदा मुसलमानों' की सामाजिक व्यवस्था दलितों की तरह ही अपमानजनक और मारक है। पसमांदा फारसी का शब्द है जिसका अर्थ है जो पीछे छूट गए हैं।"[5]

साहित्य में विमर्शों के आगमन पर प्रारम्भ में उसको लेकर दुष्प्रचार किया गया। कहा गया कि इससे समाज खंड-खंड हो जाएगा। मार्क्सवादी आलोचना व परंपरावादी आलोचना समाज इसे हजम नहीं कर पा रहा था। इस पर चौथीराम यादव जी आक्रात्मक स्वर में स्पष्ट कर देते हैं कि "खंडित विमर्श मानकर दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श और पसमांदा विमर्श की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि ये आधे अधूरे नवजागरण को पूर्णता प्रदान करने वाले विमर्श हैं तथा दलित मुक्ति, स्त्री मुक्ति और आदिवासी मुक्ति के सवाल ही मानव मुक्ति के प्रवेश द्वार हैं।"[6] चौथीराम यादव का मानना है कि मुख्य धारा का समाज यदि समय रहते इन्हें नोटिस किया होता इनकी समस्याओं को साहित्य में जगह दी गई होती तो ये अस्तित्व में हिन न आते। हिन्दी नवजागरण काल में दलित, आदिवासी कहीं दिखाई ही नहीं देते हैं। चौथीराम यादव अपने आलोचना के माध्यम से सवाल उठाते हैं कि "भारतीय राजनीति के इतिहास को गांधी युग और नेहरू युग में बाँटकर तो देखा जाता है लेकिन अंबेडकर उससे बेदखल क्यों हैं? क्या वह अंबेडकर का युग नहीं है? दलितों, पिछड़ों, स्त्रियाँ और अल्पसंख्यकों के बारे में उनसे ज्यादा किसने सोचा-विचारा?"[7] 21वीं सदी अंबेडकर की होगी। प्रो. चौथीराम यादव स्त्री मुद्दों पर पूरी तटस्थता के साथ खड़े नजर आते हैं। प्राचीन काल में स्त्रियों की इस दशा का जिम्मेदार सीधे तौर पर सामंती व्यवस्था है। वे इस समाज की असमानता व दुर्धशा का जिम्मेदार भी सामंती समाज को ही मानते हैं। चौथीराम यादव अपने आलोचना कर्म में पीछे छूट गए उन पक्षों को सामने लाते है, जहाँ तक हिंदी की सवर्णवादी बहुरंगी आलोचना दृष्टि या तो पहुँच न सकी या इसने पहुँचने की कोशिश नहीं की।

वस्तुत: आलोचना का काम साहित्य के अनछुए पहलुओं की पहचान करके तह साहित्य के उपादानों के सहारे ही एक तटस्थ भाव से उन उपेक्षित बिंदुओं को निष्कृत करके सत्यता को सामने लाना है। एक बड़े आलोचक के लिए जिस प्रतिभा और जिस विवेक की आवश्यकता व अनिवार्यता है, वह चौथीराम यादव में सहज भाव से विद्यमान है। उनकी आलोचना के केंद्र में विचार व विचारधारात्मक प्रभाव ज्यादा दिखाई देता है। टी. एस. इलियट कहते हैं कि आलोचक तथ्यों का दास नहीं, स्वामी होता है। कुछ ऐसे ही प्रवृत्ति लोकवादी आलोचक चौथीराम यादव की आलोचना में देखने को मिलती है। उनकी आलोचना किसी का विरोध नहीं करती वरन् सत्य को सत्य के रूप में उद्घाटित करती है। उनकी आलोचना का मुख्य केंद्र मानववादी दर्शन है। वे मनुष्य को एक मनुष्य के रूप में देखना चाहते हैं, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। बड़ी बेबाकी के साथ चौथीराम यादव सवाल उठाते हैं कि "क्या राष्ट्र मनुष्य से भी बड़ा है? मनुष्य है तो समाज है, समाज है तो राष्ट्र है; इसलिए मानवतावाद राष्ट्रवाद के भी पार जाता है। आज स्थितियाँ बदल गई हैं। पहले आदमी की पहचान उसकी आदमियत से होती थी लेकिन आज उसकी पहचान उसकी जाति, उसके धर्म और उसके संपत्ति से होती है। सच्चरिता, ईमानदारी, सत्यवादिता, परदुखकातरता आदि जीवन-मूल्य पिछड़े हुए आदमी के लक्षण बनकर रह गए हैं।"[8]

वास्तव में चौथीराम यादव उत्पीड़ितों के लिए नए 'आलोचना शास्त्र' का निर्माण कर रहे हैं। यह एक अलग आलोचना विमर्श है, जिसे आज तक की बहुरंगी हिंदी आलोचना ने अस्पृश्य और गैरज़रूरी मान लिया था। चौथीराम यादव हिंदी के ऐसे पक्षों को अपने आलोचना के माध्यम से सामने लाते हैं, जिनको पढ़कर लगता है कि इन पक्षों पर तो बहुत पहले ही सवाल उठाया जाना चाहिए था, फिर अभी तक हिंदी आलोचना मौन क्यों थी ? वास्तव में प्रो. यादव लीक से हटकर चलने वाले लोकधर्मी आलोचक हैं।

प्रो. चौथीराम यादव ने वैचारिक अभिव्यक्ति, वाद-विवाद एवं संवाद के माध्यम से साहित्यिक जगत में एक वैचारिक बहस छेड़ने की कोशिश की है। उनकी यह कोशिश समय के साथ सफल भी हो रही है। प्रो. यादव हिंदी साहित्य के ऐसे पहले

आलोचक हैं, जिन्होने पसमांदा विमर्श को प्रमुखता से सामने लाया। चौथीराम यादव ने नामवर सिंह को लिखे एक पत्र में कहते हैं कि 'मैं तो कबीर की तरह शास्त्र-वंचित हूँ" एक सवाल यहाँ यह आता है की क्या अनायास ही चौथीराम यादव हिंदी आलोचना की वर्चस्ववादी परंपरा से लगभग बाहर कर दिये जाते हैं ? आखिर क्यों सभा गोष्ठियों के मंचों से लेकर साहित्य की अकादमिक दुनिया में फुटकर लेखकों के वक्तव्यों का तो जिक्र हो जाता है पर चौथीराम यादव की आलोचना दृष्टि और मौलिक स्थापनाओं का जिक्र करने से लोग कतराते हैं ? इसके पीछे क्या वजह है ?

सूर्यनारायण रणसुभे लिखते हैं कि "कुल मिलाकर डॉ. चौथीराम यादव का दलित चिंतन अत्यंत स्पष्ट, पारदर्शी और बिना किसी पूर्वाग्रह से युक्त है। इस क्षेत्र में उनका ऐतिहासिक कार्य यह है कि वे दलित साहित्य के प्रतिरोध और विद्रोह को हिंदी के आदिकालीन साहित्य के साथ जोड़ते ही नहीं, उसे प्रमाणित भी करते हैं।"[9] चौथीराम यादव एक साक्षात्कार में कहते हैं,"इसे अस्मिताओं का आंदोलन कहते हैं क्योंकि हजारों सालों जो से उनकी खोई हुई अस्मिता थी। उस अस्मिता की खोज का आंदोलन है। हम कौन हैं? हमारा अस्तित्व क्या है? तो अपने बारे में जानने की जो जागरूकता पैदा हुई या अस्मिताबोध हुई।"[10] प्रो. यादव के कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य की अपनी खुद की कुछ न कुछ पहचान होती है। हजारो सालों से दलितों तथा स्त्रियों को दबाने की कोशिश की गई। समाज में शिक्षा का प्रवेश होने पर उनके अंदर चेतना आई है, तो वे अपने अस्तित्व, अपनी पहचान के लिए प्रयत्नशील हैं। इसे वे अस्मितामूलक विमर्श कहते हुए इस आंदोलन में और धार देते हैं। आलोचना को एक नई चेतना प्रदान करते हैं । इनकी आलोचना की खासियत यह है कि वे जनसरोकारों से जुड़े होने के कारण तत्कालीन खतरें भी उठाने को तैयार रहते हैं । यह साहस उन्हें आदिकाल से चली आ रही प्रतिरोधी परंपरा के वाहकों से मिलती है । सामाजिक न्याय व परिवर्तन का प्रश्न उनकी आलोचकीय दृष्टि का अनिवार्य अंग है । इसलिए वे सीधे कहते हैं कि 'परंपरा का विकास प्रगति से होता है, परंपरा कि रक्षा से नहीं ।' यही कारण है कि वे समकालीन आलोचकों में अलग एवं महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

संदर्भ :

1. नाल्ह, नरपति नाल्ह. बीसलदेव रासो. पृष्ठ संख्या 23
2. यादव, चौथीराम. (2014). उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज. नई दिल्ली : (अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा) लिमिटेड). पृष्ठ संख्या 29
3. वही, पृष्ठ संख्या 29
4. वही, पृष्ठ संख्या ९
5. वही, पृष्ठ संख्या 20
6. वही, पृष्ठ संख्या १३
7. वही, पृष्ठ १०३
8. वही, पृष्ठ संख्या 18
9. वही, पृष्ठ संख्या 18
10. थापा, सूरज बहादुर. (सं.). (2016). जब जब देखा लोहा देखा. नई दिल्ली : (अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा) लिमिटेड). पृष्ठ संख्या 30
11. साक्षात्कार, आलोचक चौथीराम यादव जी से दिनेश पाल और दीपक कुमार की बातचीत, अपनी माटी पत्रिका, दलित आदिवासी विशेषांक, अंक १९, सितंबर-नवंबर २०१५